द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान ब्रिटिश भारतीय सेना के जवान

ब्रिटिश भारतीय सेना का राष्ट्रवाद?

सनी कुमार

आज जब भारत के राजनीतिक विमर्श में सेना का ज़िक्र काफ़ी बढ़ गया है तब बौद्धिकों, ख़ासकर इतिहासकारों के लिए यह ज़रूरी हो गया है कि वे भी मानव इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण संस्थान के बारे में अपने विचारों का पुनरीक्षण करें। आधुनिक इतिहास-लेखन में सबसे ज़्यादा नज़रअंदाज़ किये गये मुद्दों में से एक है सैन्य इतिहास और आधुनिक राज्य के उद्‌भव से उसका संबंध। औपनिवेशिक इतिहास-लेखन में इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों में तान ताई योंग, सीमा अलवी, कौशिक रॉय, अमर फ़ारूक़ी इत्यादि की किताबें और लेख शामिल हैं।[1] इन सभी शोधों में अंग्रेज़ी शासन के दौर में भारतीय सेना के विकास के विभिन्न पहलुओं और अंग्रेज़ी शासन के संरक्षण में उनकी केंद्रीय भूमिका का मूल्यांकन किया गया है। अंग्रेज़ी शासन के दस्तावेज़ों में कई आला अधिकारियों के बयान दर्ज हैं जिनमें वे इस बात को दोहराते हैं कि हिंदुस्तान पर उनकी हुक़ूमत फ़ौजी ताक़त के दम पर है। इस वजह से सैनिकों पर सम्पूर्ण नियंत्रण और उनकी वफ़ादारी क़ायम रखने को वे हमेशा प्रमुखता देते थे। इसके बावजूद पूरे औपनिवेशिक दौर में छोटे बड़े सैन्य विद्रोह होते रहें और उनमें से एक, 1857 के विद्रोह, ने अंग्रेज़ी हुक़ूमत की नींव हिला दी। फिर भी इतिहासकारों के बीच इस बात पर बहुत मतभेद नहीं है कि अंग्रेज़ी हुक़ूमत को बनाए रखने में कम्पनी और उसके बाद क्राउन की भारतीय सेना की प्रमुख भूमिका रही। इतिहासकारों के इस मत के विरुद्ध भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के आंदोलन में भारतीय सैनिकों की प्रमुख और निर्णायक भूमिका को इतिहास-लेखन में स्थापित करने के उद्देश्य से मेजर जनरल जय कृष्ण कौशिक ने अपनी किताब *एम्पायर टू इण्डिपेंडेंस : इण्डियन सोल्जर्स ब्युगल द लास्ट पोस्ट फ़ॉर द अंग्रेज़ी राज* लिखी है।[2] मेरा यह लेख

---

[1] तान ताई योंग (2005), सीमा अलवी (1999), कौशिक रॉय (2017), अमर फ़ारूक़ी (2015).

[2] मेजर जनरल जय कृष्ण कौशिक (2015) : 20.
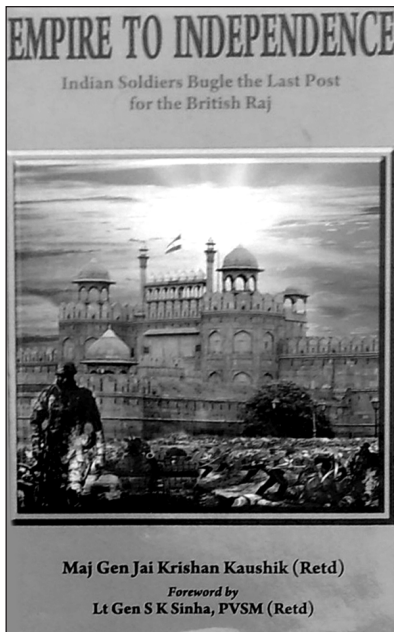
एम्पायर टू इण्डिपेंडेंस : इण्डियन सोल्जर्स ब्युगल द लास्ट पोस्ट फ़ॉर द अंग्रेज़ी राज (2015)
मेजर जनरल जय कृष्ण कौशिक
स्टैंडर्ड पब्लिशर्स (इण्डिया), नयी दिल्ली
पृ. 321

मुख्यत: इस किताब की समीक्षा है जिसके साथ-साथ मैं इस लेख के सीमित दायरे में औपनिवेशिक काल में भारतीय सेना के इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की चर्चा भी करूँगा।

इस किताब को पढ़ते वक़्त इस बात को नज़रअंदाज़ करना बहुत मुश्किल है कि लेखक ने भारतीय सैन्य इतिहास-लेखन की उपरोक्त उल्लिखित कृतियों के साथ सीधे-सीधे न ही विवाद किया है और न ही उनका ज़िक्र। कई जगहों पर उद्धरणों का स्रोत भी न बताया जाना, विकीपीडिया का स्रोत के रूप में अनवरत उल्लेख आदि कई प्रवृत्तियाँ, जो स्थापित इतिहास-लेखन परम्परा में अस्वीकार्य हैं, इस किताब में उपयोग की गयी हैं। लेकिन शैली के इन सवालों को नज़रअंदाज़ करते हुए लेखक के मुख्य तर्कों की विवेचना की जा सकती है।

इस किताब के माध्यम से लेखक यह स्थापित करना चाहते हैं कि भारत पर हुए औपनिवेशिक शासन को ख़त्म करने और राष्ट्रवादी चेतना को बढ़ाने में भारतीय सैन्य विद्रोहों ने सबसे प्रमुख भूमिका निभायी। पूरे औपनिवेशिक काल में निरंतर हो रहे स्थानीय सैन्य विद्रोहों ने भारतीय सेना के अंदर राष्ट्रवाद की भावना और आज़ादी के लिए संघर्ष करने की इच्छा को लगातार बढ़ाने का काम किया। हर छोटा विद्रोह अंग्रेज़ों की ताक़त को कमज़ोर करता चला गया।[3] लेखक के अनुसार अंग्रेज़ों के लिए सबसे बड़ी चुनौती बनी सुभाष चंद्र बोस की आई.एन.ए. (इण्डियन नेशनल आर्मी या आज़ाद हिंद फ़ौज) जिसने अंग्रेज़ी शासन को कड़ी चुनौती दी और भारत की आबादी के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया। आई.एन.ए. के सैनिकों की गिरफ़्तारी के बाद उन्हें मिली सजाओं ने भारत के लोगों के अंदर काफ़ी रोष पैदा किया। उस दौर में हुए तीन अन्य सैन्य प्रतिरोधों की चर्चा करते हुए लेखक उन्हें आई.एन.ए. के मुक़दमे से उभरे अंग्रेज़ विरोधी माहौल की उपज बताते हैं। लेखक का यह मुख्य तर्क है कि इन सभी विद्रोहों ने मिल कर भारतीय सेना में अंग्रेज़ विरोधी भावना को इतना बढ़ा दिया कि अंग्रेज़ों के लिए भारत पर शासन करना मुश्किल हो गया और यह भारत पर अंग्रेज़ी हुक़ूमत के ख़ात्मे की सबसे बड़ी वजह बना।[4]

अंग्रेज़ी राज के पतन की यह व्याख्या इतिहास-लेखन में सचमुच एक अप्रचलित विचार है। इस निष्कर्ष में ही एक अंतर्विरोध साफ़ दिखता है। एक तरफ़ लेखक बर्तानवी भारतीय सेना में शुरुआत से हो रहे छिटपुट संघर्षों को न सिर्फ़ उपनिवेशवाद विरोधी बल्कि राष्ट्रवादी कहते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ वे सुभाष चंद्र बोस की आज़ाद हिंद फ़ौज के भारतीय सेना को अंग्रेज़-विरोधी बनाने का मुख्य श्रेय देते हैं।[5] यह एक ज़रूरी सवाल है जिसकी पड़ताल इस लेख में सम्भव नहीं है कि क्या बर्तानवी

---

[3] वही : 115.

[4] लेखक चीफ़ ऑफ़ आर्मी स्टाफ़ अलेंब्रुक के जून,1946 के कथन को उद्धरित करते हैं जिसके अनुसार भारतीय सेना की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लग चुका था. गुरखा, आरआईएन और आरआईएएफ़ आदि इकाइयाँ भी पूर्णत विश्वसनीय नहीं रह गयी थीं. वही : 178.

[5] इस किताब की प्रस्तावना पूर्व लेफ़्टिनेंट जनरल एस.के. सिन्हा ने लिखी है जो खुद सुभाष चंद्र बोस से बेहद प्रभावित हैं. उन्होंने किसी बंगाली इतिहासकार के हवाले से लिखा है कि गाँधीवादी आंदोलनों का दौर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में अंग्रेज़ों से बिना आज़ादी दिलाए समाप्त हो गया और हमें आख़िरकार आज़ादी नेताजी के संघर्षों से मिली. अगर नेतृत्व नेताजी के हाथ में रहता तो विभाजन भी नहीं होता क्योंकि हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों को नेताजी बहुत पसंद थे. वही : 15.

आज़ाद हिंद फ़ौज की परेड का निरीक्षण करते हुए उसके सेनापति सुभाष चंद्र बोस

भारतीय सेना, जिसकी वफ़ादारी पर अंग्रेज़ी साम्राज्य पूर्ण रूप से निर्भर था, सचमुच किसी दौर में प्रमुख रूप से अंग्रेज़-विरोधी हुई ? लेकिन इतिहास-लेखन में स्थापित भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के राजनीतिक और जन भागीदारी को प्रमुखता देने वाले पक्ष के ज़रिये सेना और सैन्य विद्रोहों को प्रमुखता देने के इस प्रयास की समीक्षा यहाँ ज़रूर की जा सकती है।

किताब की शुरुआत लेखक भारत में राष्ट्रवाद के इतिहास पर चर्चा से करते हैं। बेनेडिक्ट ऐंडरसन और पॉल जेम्स के सिद्धांतों का ज़िक्र करने के बावजूद लेखक बिना उनकी आलोचना किए राष्ट्रवाद की ठीक उलट समझदारी पेश करते हैं जो कि पुरानी राष्ट्रवादी परिकल्पना से ही प्रेरित लगती है। लेखक के अनुसार भारत में प्राचीन काल के साम्राज्यों के दौर में ही भरपूर राष्ट्रवाद का विकास हो चुका था जो कि मध्यकाल में 'इस्लामिक' शासन (जो वास्तव में अरबी, तुर्की, अफ़ग़ान और मुग़ल/मंगोल जैसे अलग-अलग साम्राज्य थे) के आने से कमज़ोर हो गया। इनके अनुसार मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य भारतीय राष्ट्र की प्राचीनता, ताक़त और राष्ट्रवाद की भावना के परिचायक थे। तब सवाल यह उठता है कि कलिंग जैसे राज्य जो इनका विरोध कर रहे थे, वे क्या राष्ट्र विरोधी थे ? गुप्त काल और मुहम्मद गोरी के तुर्की राज्य के बीच कई सदियों तक भारत में पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चोल, चालुक्य, पल्लव इत्यादि राज्य आपस में संघर्ष करते रहे। तो फिर सच में क्या इस सवाल का जवाब दिया जा सकता है कि इनमें से कौन राष्ट्रवादी है और कौन राष्ट्रविरोधी और इनके आपसी विभाजन के लिए कौन ज़िम्मेदार है ? राष्ट्र और राष्ट्रवाद को एक प्राचीन अवधारणा मानना लेखक के लिए कई अन्य सैद्धांतिक समस्याएँ पैदा करता है जो उनकी अपनी व्याख्या में विसंगतियों की वजह बन जाता है।

वे मुग़लों को विदेशी आक्रमणकारी कहते हैं और उनके ख़िलाफ़ खड़े होने के लिए महाराणा प्रताप और शिवाजी को राष्ट्रवादी की संज्ञा देते हैं। लेकिन राजपूतों और मराठों के प्रभुत्व की लड़ाई को पूरे भारत से जोड़ना कहाँ तक सही है ? बंगालियों के लिए मराठा उतने ही बाहरी थे जितने कि मुग़ल। अठारहवीं सदी में बंगाल पर हुआ हर मराठा आक्रमण अपनी निर्ममता के लिए याद किया जाता है। अठारहवीं सदी के इतिहास तक आते ही लेखक मुग़ल शासन को सकारात्मक रूप में याद

करने लगते हैं,[6] और उनके विघटन के बाद आये राजनीतिक विकेंद्रीकरण को नकारात्मक रूप में देखते हैं जो इस दौर में स्थापित इतिहास-लेखन के दृष्टिकोण के विपरीत है।[7] उनका मानना है कि इस दौर का आपसी संघर्ष राष्ट्रवाद की भावना में आयी कमी का परिचायक था जिसकी वजह से विभाजित और कमजोर भारतीय राष्ट्र अंग्रेज़ी हुक़ूमत के प्रसार को नहीं रोक पाया। तो क्या फिर मुग़ल साम्राज्य अठारहवीं सदी के मराठों, सिखों, राजपूतों इत्यादि की तुलना में ज़्यादा राष्ट्रवादी था? एक बात साफ़ है कि लेखक बड़े राज्य/साम्राज्य को राष्ट्र-शक्ति से जोड़ कर देखते हैं लेकिन फिर इस सिद्धांत को मुग़ल और अंग्रेज़ी साम्राज्यों से सुसंगत करने में उन्हें समस्या होती है। इस दृष्टिकोण की एक और समस्या यह है कि इन साम्राज्यों के ख़िलाफ़ हो रहे हर तरह के प्रांतीय, किसान और आदिवासी इत्यादि विद्रोह महत्त्वहीन हो जाते हैं क्योंकि वे सचेत व स्वघोषित रूप से किसी 'राष्ट्र' के पक्ष में या राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित नहीं थे और न ही वे कोई बड़ा राज्य अथवा साम्राज्य बनाने की इच्छा से प्रेरित थे।

अब हम लेखक की सबसे बड़ी समस्या का ज़िक्र करेंगे। लेखक ने अपने उपनिवेशवाद विरोधी, राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से अंग्रेज़ी हुक़ूमत की भारतीय सेना का ऐतिहासिक मूल्यांकन करने कि कोशिश की है। वे एक ओर सैन्य विद्रोहों पर अपने अध्ययन को केंद्रित कर उनमें भारतीय सैनिकों को आज़ादी के मुख्य नायक का दर्जा देना चाहते हैं वहीं दूसरी ओर वे न तो इसे अंग्रेज़ी राज्य के ख़िलाफ़ ग़द्दारी के रूप में देखना चाहते हैं और न ही बर्तानवी भारतीय सेना का औपनिवेशिक राज्य के स्थायित्व में भूमिका का ऐतिहासिक विश्लेषण करना चाहते हैं। भारतीय सेना का इतिहास और अंग्रेज़ी हुक़ूमत के स्थायित्व में उसकी मुख्य भूमिका का मूल्यांकन, उसके चरित्र और संरचना में हो रहे बदलाव का मूल्यांकन किये बिना, सिर्फ़ असंबंधित सैन्य विद्रोहों पर केंद्रित रह कर नहीं किया जा सकता। लेखक सुभास चंद्र बोस के आई.एन.ए. विद्रोह को भारत में 150 साल लम्बे अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हो रहे राष्ट्रवादी सैन्य विद्रोहों से जोड़ते हैं। उनके लिए इस कहानी की शुरुआत वेल्लोर विद्रोह (1806) और उसके बाद हुए जावा (1814-15) और बैरकपुर (1824) विद्रोहों से होती है। लेखक इन विद्रोहों को पहले अंग्रेज़-विरोधी, राष्ट्रवादी संघर्ष की संज्ञा देते हैं जबकि उनके अपने विश्लेषण से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि इन विद्रोहों की मुख्य वजहों में उच्चजातीय सैनिकों का अपनी विशिष्टता और जाति-सूचक चिह्नों को बचाए रखने का भय, वेतन कम होने की शिकायत और कुछ अन्य अफ़वाहें थीं। न ही इन विद्रोहियों की माँगों में और न किसी अन्य स्रोत से इनमें किसी तरह देश को अंग्रेज़ों से आज़ाद कराने की या राष्ट्रवाद के विचार को फैलाने की कोई कोशिश नज़र आती है।[8]

इतिहासकारों के बीच इस मत पर कमोबेश सहमति है कि राष्ट्र की परिकल्पना और राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचार है जिसका भारत में उद्‌भव उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शहरी, शिक्षित वर्गों के बीच देखने को मिलता है। सबॉल्टर्न इतिहासकारों ने हमें इस बात का अहसास कराया कि उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वे अपने विचारों और माँगों को आधुनिक, राष्ट्रवादी भाषा में व्यक्त करें। अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के समय से ही सरकार-ज़मींदार-साहूकार

---

[6] वही : 29-31.

[7] पिछले कुछ दशकों में मुज़फ़्फ़र आलम, सी.ए. बेली, सीमा अलवी, चेतन सिंह, स्टीवर्ट गॉर्डन इत्यादि ने अपने लेखन में अठारहवीं सदी को 'अंधकार युग' की संज्ञा देने वाली इतिहास-लेखन की धारा की आलोचना की है.

[8] आज के दौर में 'वन रैंक वन पेंशन' के सवाल पर चल रहे सैनिकों के आंदोलन की तुलना औपनिवेशिक काल के कई सैन्य आंदोलनों से की जा सकती है. अगर इतिहासकार औपनिवेशिक काल के उन आंदोलनों को सत्ता बदलने के राष्ट्रवादी आंदोलन के रूप में देखते हैं तो क्या आज के इस आंदोलन को भी उसी रूप में देखेंगे? यह सवाल राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की उस समस्या को दिखाता है जहाँ वे एक जैसी घटनाओं के मूल्यांकन के लिए अलग-अलग पैमाने लेते हैं. इस दृष्टिकोण के तहत जिन कथनों और कृत्यों को औपनिवेशिक काल में क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी की संज्ञा दी जाती है वे ही अगर उत्तर-उपनिवेशिक काल में दिखें तो उन्हें आतंकवादी और राष्ट्रविरोधी क़रार दिया जाता है.

गठजोड़ के ख़िलाफ़ स्थानीय और क्षेत्रीय किसान और आदिवासी विद्रोह होते रहे जो अपने चरित्र में उपनिवेश विरोधी थे। सबॉल्टर्न इतिहासकार, अन्य इतिहासकारों द्वारा इन आंदोलनों में राष्ट्रवादी चेतना ढूँढ़ने के प्रयासों को सम्भ्रांतवादी बताते हुए उनकी निंदा करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार लेखक द्वारा उल्लिखित सैन्य विद्रोहों को अंग्रेज़ विरोधी कह सकते हैं। लेकिन जहाँ एक ओर इन्हें राष्ट्रवादी कहना इनके आंदोलन को अपनी विशिष्ट चेतना से दूर कर एक सम्भ्रांतवादी इतिहास-लेखन के एजेंडे से जोड़ने के समान होगा वहीं दूसरी ओर इसी दौर में अंग्रेज़ी सत्ता के भारतीय उपमहाद्वीप में हुए प्रसार में इस सेना की प्रमुख भूमिका को नज़रअंदाज़ कर इनके इतिहास को तोड़-मरोड़ कर पेश करने के समान होगा। राजनीतिक सत्ता का जनता पर नियंत्रण स्थापित करना और उसे स्थायी बनाए रखना ही सेना का मुख्य काम है जिसे सेना का इतिहास लिखने के किसी भी प्रयास को अपने व्याख्या के केंद्र रखना चाहिए।

1857 का विद्रोह लेखक के लिए भारतीय आज़ादी के आंदोलन का अब तक का सबसे बड़ा संघर्ष है और वे उस सैन्य विद्रोह की विस्तार से चर्चा करते हैं। लेकिन 1857 की राजनीतिक महत्ता को सही रूप में चिह्नित करने के बावजूद लेखक आश्चर्यजनक रूप से इसे सिपाही विद्रोह से व्यापक जनांदोलन में तब्दील करने में किसानों, ताल्लुक़ेदारों और क्षेत्रीय राजाओं की भूमिका और उसके चरित्र का न के बराबर अध्ययन करते हैं। शायद ऐसा करते हुए वे अंग्रेज़ विरोधी आंदोलन में सैन्य विद्रोहों की केंद्रीय भूमिका को स्थापित करना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण वे पूरी किताब में 1800 से लेकर 1947 तक के लिए अपनाते हैं जिसकी वजह इस पूरे दौर के उपनिवेशविरोधी आंदोलन के अध्ययन में वे किसान व अन्य तरह के जन-आंदोलनों को जगह नहीं देते। इसीलिए 1857 भी उनके लेखन में मुख्यत: सिपाही विद्रोह बन कर ही रह जाता है जो कि कई औपनिवेशिक इतिहासकारों का भी तर्क था।

> राजपूतों और मराठों के प्रभुत्व की लड़ाई को पूरे भारत से जोड़ना कहाँ तक सही है? बंगालियों के लिए मराठा उतने ही बाहरी थे जितने कि मुग़ल। अठारहवीं सदी में बंगाल पर हुआ हर मराठा आक्रमण अपनी निर्ममता के लिए याद किया जाता है। अठारहवीं सदी के इतिहास तक आते ही लेखक मुग़ल शासन को सकारात्मक रूप में याद करने लगते हैं, और उनके विघटन के बाद आये राजनीतिक विकेंद्रीकरण को नकारात्मक रूप में देखते हैं ... तो क्या फिर मुग़ल साम्राज्य अठारहवीं सदी के मराठों, सिखों, राजपूतों इत्यादि की तुलना में ज़्यादा राष्ट्रवादी था?

दूसरी समस्या यह है कि 1857 के विद्रोह को राष्ट्रवादी कहना उसमे शामिल न होने वाले समूहों के लिए पहले से ही नकारात्मक भूमिका तय कर देता है। इस आंदोलन में बंगाल सेना के अलावा न किसी अन्य सेना ने और न ही बंगाल, पंजाब, दक्षिण भारत आदि क्षेत्रों की बड़ी आबादी ने प्रमुखता से भाग लिया। पंजाब के खालसा सिखों ने भी इस आंदोलन में भाग नहीं लिया जबकि उन्हें अंग्रेज़ों ने पिछले दशक में दो ख़ूनी युद्धों में हरा कर उनके राज्य पर क़ब्ज़ा किया था। अंग्रेज़ों से ज़्यादा उन्हें पुरबिया सैनिकों से नाराज़गी थी और उन्होंने इस विद्रोह को पुरबिया विद्रोह मानकर अंग्रेज़ी सेना को उनको हराने में और दिल्ली पर दुबारा क़ब्ज़ा दिलाने में निर्णायक भूमिका निभायी। आने वाले दशकों में राष्ट्रवादी आंदोलन के विचार को उन्नत करने वाले शहरी व शिक्षित बंगाली युवाओं ने भी इस आंदोलन के ख़िलाफ़ ही लिखा। 1857 के इन जैसे कई

आज़ाद हिंद फ़ौज के सेनानियों का मुक़द्दमा लड़ने जाते हुए जवाहरलाल नेहरू और अन्य वक़ील

अन्य पेचीदा पहलुओं की व्याख्या लेखक द्वारा अपनाए गये राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से सम्भव नहीं है।

लेखक इसके बाद अगले तीन अध्यायों में बहादुर शाह पर हुए मुक़दमे, कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवादी राजनीति और उससे अलग उग्र राष्ट्रवादी राजनीति के उदय का अध्ययन करते हैं जिनका उनके मुख्य तर्कों से कोई सीधा संबंध नहीं जान पड़ता। बहादुर शाह के मुक़दमे पर उनका लिखा पढ़ने योग्य है हालाँकि इस विषय पर पहले से मौजूद लेखों से अलग वे कोई नयी बात नहीं कहते।[9] राष्ट्रवादी और उग्र-राष्ट्रवादी राजनीति पर केंद्रित अगले दो अध्यायों में काफ़ी अन्य समस्याएँ हैं पर उनकी व्याख्या न तो इस लेख में सम्भव है न ही बेहद ज़रूरी। अनोखी बात यह कि इन तीन असंबंधित अध्यायों के बाद लेखक प्रथम विश्व-युद्ध और उसके बाद के सैन्य विद्रोहों के अध्ययन की ओर बढ़ जाते हैं लेकिन 1858-1914 के बीच भारतीय सेना की संरचना में आये उन आधारभूत बदलावों को वे नज़रअंदाज़ कर देते हैं जो आज़ादी के बाद भी भारतीय सेना में देखे जा सकते हैं। भारतीय सेना में नस्लभेदीय विमर्श से प्रभावित 'मार्शल रेस' सिद्धांत की प्रमुखता, इसकी वजह से भारतीय समाज का आनुवंशिक रूप से मजबूत और कमज़ोर जातियों में बँटवारा, औपनिवेशिक पंजाब से अत्यधिक भर्ती और उसका पंजाब की राजनीति पर सरकार-समर्थक पार्टियों का प्रभुत्व बनाने में प्रभाव इत्यादि कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे पूरी तरह अनछुए रह गये। सेना द्वारा 'राष्ट्र-हित' में राजनीति में दख़ल का पक्ष लेने के बावजूद लेखक द्वारा पंजाब, जहाँ बाक़ी पूरे देश से कहीं ज़्यादा भर्ती हुई, को नज़रअंदाज़ करना आश्चर्यजनक नहीं है। जहाँ एक ओर औपनिवेशिक दौर में पंजाब के सबसे वफ़ादार प्रांत बने रहने की एक बड़ी वजह सैन्य भर्ती ही मानी गयी, वहीं दूसरी ओर आज़ादी के समय यह क्षेत्र मुख्यत: पाकिस्तान के हिस्से में गया जहाँ सेना की 'राष्ट्र-हित' में राजनीतिक दख़ल की नीति ने देश में जनतंत्र को ही नहीं कमज़ोर रखा बल्कि हर पैमाने पर देश को पीछे धकेलने के लिए भी ज़िम्मेदार बनी.

[9] उदाहरण के लिए देखें, प्रमोद के नायर (सं.) (2007).

सैन्य विद्रोहों के अध्ययन का दूसरा हिस्सा 1915 के सिंगापुर विद्रोह के ज़िक्र से होता है और उसके ठीक बाद लेखक द्वितीय विश्व-युद्ध के दौर के विद्रोहों की बात करने लगते हैं। लेखक चूँकि शुरू से ही सैन्य विद्रोहों को विचारधारात्मक रूप से राष्ट्रवादी मानते हैं इसीलिए वे इस बात को चिह्नित नहीं कर पाते कि ग़दर आंदोलन के दौर से ही क्रांतिकारियों द्वारा सेना के बीच सुनियोजित रूप में उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा का प्रसार और विद्रोहों की योजना को अंजाम देने की कोशिश की गयी। इस दौर के ज़्यादातर प्रयास अंग्रेज़ों के बेहतरीन वैश्विक ख़ुफ़िया तंत्र की वजह से विफल हो गये। इसके बावजूद 1915-1947 के बीच के विद्रोहों में पहले के विद्रोहों की जगह सचमुच कुछ हद तक राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रभाव था। ग़दर आंदोलन (1914-17) और आई.एन.ए. विद्रोह(1942-44) के अंग्रेज़ी विरोध के आह्वान के बावजूद इस दौर में भारतीय सेना ने दोनों विश्व युद्ध में अंग्रेज़ों के पक्ष में पूरी ताक़त और वफ़ादारी से शिरकत की।[10] इस बात को लेखक नज़रअंदाज़ करते हैं कि दोनों विश्व-युद्धों के दौरान सैन्य विद्रोह नियम नहीं अपवाद थे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान देश के बाहर हुए विद्रोहों में मिस्र में हुआ रॉयल इण्डियन आर्मी सर्विस कोर्प्स विद्रोह (1940) और हांगकांग का विद्रोह (1941) शामिल है। लेखक बताते हैं कि इन विद्रोहों में कम्युनिस्टों के वैचारिक प्रभाव देखने को मिलते हैं पर वे इस तथ्य की व्याख्या नहीं करते। देश और उसके बाहर हुए यह छोटे-बड़े विद्रोह एक बड़े सैन्य विद्रोह की भूमिका बना रहे थे जो उनके अनुसार सुभाष चंद्र बोस का आई.एन.ए. विद्रोह था। इतिहास-लेखन में इस तरह का पूर्वनियोजित दृष्टिकोण, जो घटी हुई घटनाओं के बीच के एक तरह के संबंध को अवश्यम्भावी मानता हो, अब सही नहीं माना जाता है। इस मामले में यह कहना ग़लत नहीं होगा कि आई.एन.ए. के अलावा उसके पहले और बाद के जिन विद्रोहों का ज़िक्र लेखक करते हैं, वे प्राथमिक रूप से देश को आज़ाद करने की माँग पर आधारित नहीं थे, भले ही उनके कारण कुछ हद तक अंग्रेज़-विरोधी चेतना विकसित हुई हो। उस आधार पर मेरा यह मानना है कि आई.एन.ए. का चरित्र अन्य विद्रोहों से काफ़ी अलग था और इन सब को किसी यांत्रिक रूप में जोड़ कर नहीं देखा जा सकता। मेरी समझ में लेखक इस दौर को राष्ट्रवादी सैन्य विद्रोहों का वसंत बताते हुए इन सब की एक ही व्याख्या करते हैं। फिर भी उनका यह कहना ग़लत नहीं है कि आई.एन.ए. के सैनिकों की गिरफ़्तारी और आत्मसमर्पण के बाद चले मुक़दमों का प्रभाव देश भर के लोगों सहित भारतीय सेना पर भी पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए तीन सैन्य विद्रोहों का लेखक विश्लेषण करते हैं— रॉयल इण्डियन एयर फ़ोर्स (आरआईएएफ़); रॉयल इण्डियन नेवी (आरआईएन) और जबलपुर विद्रोह— जिनमें शामिल सैनिक न सिर्फ़ आई.एन.ए. के मुक़दमें बल्कि आज़ादी के माहौल से प्रभावित ज़रूर होंगे। पर इस पूरी व्याख्या से कहीं से भी लेखक के मुख्य तर्क की पुष्टि नहीं होती कि इन सैन्य विद्रोहों के वजह से ही अंग्रेज़ों से भारत को आज़ादी मिली। पुस्तक में 1946-7 के दौर के कुछ अंग्रेज़ अधिकारियों के बयानों का उल्लेख ज़रूर है जिनसे स्पष्ट होता है कि भारतीय सेना की विश्वसनीयता बहुत घट गयी थी। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह देश के माहौल से प्रभावित होने के बजाय उसे बनाने के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार था।

[10] प्रथम विश्व-युद्ध के सौ वर्ष पूरे होना इस युद्ध में भारतीय योगदान पर कई नयी किताबों के प्रकशित होने का उपलक्ष बना. इनमें से उल्लेखनीय हैं : शरबनी बासु (2016), वेदिका कांत (2014), गजेंद्र सिंह (2014).

संदर्भ

अमर फ़ारूक़ी (2015), 'डिवाइड ऐंड रूल'? 'रेस, मिलिट्री रिक्रूटमेंट ऐंड सोसाइटी इन लेट नाइनटींथ सेंचुरी कोलोनियल इण्डिया', (प्रेसिडेंशिअल एड्रेस सेक्शन III : मॉडर्न इण्डिया, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 75वाँ सत्र, जवाहरलाल नेहरू युनिवर्सिटी, 28-30 दिसम्बर, 2014).

कौशिक रॉय (2017), *द आर्मी इन अंग्रेज़ इण्डिया : फ़्रॉम कोलोनियल वारफ़ेयर टू टोटल वॉर 1857-1947,* ब्लूम्सबरी पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

गजेंद्र सिंह (2014), *द टेस्टिमनीज़ ऑफ़ इण्डियन सोल्जर्स ऐंड द टू वर्ल्ड वार्स : बिटवीन सेल्फ़ ऐंड सिपॉय,* ब्लूम्सबरी एकेडेमी, न्युयॉर्क.

तान ताई योंग (2005), *द गैरिसन स्टेट : द मिलिट्री, गवर्नमेंट ऐंड सोसाइटी इन कोलोनिअल पंजाब, 1849-1947,* सेज, नयी दिल्ली.

प्रमोद के नायर (सं.) (2007), *द ट्रायल ऑफ़ बहादुर शाह ज़फ़र,* ओरिएंट लॉन्गमैन, हैदराबाद.

वेदिका कांत (2014), *इफ़ आई डाई हिअर हु विल रिमेम्बर मी ? : इण्डिया ऐंड द फ़र्स्ट वर्ल्ड वॉर,* रोली बुक्स, नयी दिल्ली.

शरबनी बासु (2016), *फ़ॉर किंग ऐंड अनअदर कंट्री : इण्डियन सोल्जर्स ऑन द वेस्टर्न फ्रंट, 1914-18,* ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग, नयी दिल्ली.

सीमा अलवी (1999), *द सीपोय्ज ऐंड द कम्पनी : ट्रेडिशन ऐंड ट्रांजिशन इन नॉरदर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.